

सभ्यता का कचरा और कचरे की सभ्यता

सुनील

कुछ साल पहले की बात है। तब बोतलबंद पानी का नया-नया प्रचलन हुआ था। मैं रेलगाड़ी से केरल जा रहा था। मेरे सामने की बर्थ पर बैठा यात्री एक के बाद एक बिसलेरी व शीतल पेय की बोतलें खरीदता जा रहा था। जब वह केरल में अपने स्टेशन पर उतरा तो छह-सात खाली प्लास्टिक की बोतलों का कचरा छोड़ गया। मैं हैरानी से यह देख रहा था। फिर तो बाद के सालों में यह नज़ारा बार-बार देखने को मिला और आधुनिक शहरी जीवन का अनिवार्य हिस्सा बन गया। जो 12 रुपए की बोतलें नहीं खरीद पाते, वे एक रुपए का पानी पाउच खरीदते हैं और पन्नी फेंक देते हैं।

कचरा, ज़बर्दस्त कचरा, पग-पग पर कचरा, आधुनिक जीवन और आधुनिक सभ्यता की बड़ी सच्चाई व समस्या बनता जा रहा है। इस कचरा संस्कृति की यह हद है कि अब इंसान पानी भी पीता है तो कचरा पैदा करता है। ऐसा कचरा, जिसको नष्ट करना या ठिकाने लगाना आसान नहीं है। पीने के अलावा खाने, खाना पकाने, नहाने, सफाई करने, खरीदारी करने आदि रोजमर्रा की हर गतिविधि में कचरा पैदा होता है। अब हमारे नगरों, तीर्थों, पर्यटन स्थलों, बगीचों, नदियों, रेल पटरियों आदि सब जगहों पर कचरा ही कचरा नज़र आता है। सबसे प्रमुख होता है पोलिथीन व प्लास्टिक का कचरा।

प्लास्टिक और पोलिथीन आधुनिक युग का चमत्कार है। इसने पैकिंग में क्रांति ला दी है। देशी-विदेशी कंपनियों को छोटी पैकिंग करके अपना माल गांवों तक व गरीबों के घर में पहुंचाने की सुविधा मिल गई है। पाउच अब दिनचर्या का ज़रूरी हिस्सा बन गए हैं। चाहे वे गुटके के पाउच हों, शेम्पू या पानी के। हमारे जीवन में कागज़, लकड़ी, बांस, बेंत, घास, जूट, सूत, लोहा, टीन, पीतल, कांच, मिट्टी आदि की बनी वस्तुओं की जगह प्लास्टिक व पोलिथीन ने ले ली है। लेकिन इस चक्कर में एक बुनियादी बात हम भूल गए हैं। जहां बाकी सारी चीज़ें देर-सबेर सड़ जाती हैं और

वापस मिट्टी का हिस्सा बन जाती हैं, पोलिथीन-प्लास्टिक सड़ता नहीं है, अपना ज़हरीला प्रभाव छोड़ता रहता है, नालियों व नालों को अवरुद्ध करता है और मिट्टी में भी केंचुओं व अन्य जीवों के कुदरती काम को रोकता है। पोलिथीन में फेंके गए खाद्य पदार्थों को कई बार गाएं खा लेती हैं और मर जाती हैं।

कचरे के दिन दूने, रात चौगुने बढ़ने का एक प्रमुख कारण है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा आधुनिक जीवन शैली के नाम पर विकसित की गई 'यूज़ एंड थ्रो' यानी 'वापरो और फेंको' की संस्कृति। चीज़ों को सहेजकर रखना, मरम्मत कर उनका दुबारा इस्तेमाल करना अब हमारी आदत नहीं रही। डिस्पोज़ल (डिस्पोज़ेबल) शब्द अब आम बोलचाल का हिस्सा हो चला है जिसे सब समझते हैं। कुछ लोगों की अमीरी इतनी बढ़ रही है कि बरबादी या फिज़ूलखर्ची उनके लिए चिंता का विषय नहीं, शान का विषय है।

कंपनियों के स्वार्थ के लिए साधनों की कितनी बरबादी होती है तथा कचरा पैदा होता है, इसका एक और उदाहरण आज के अखबार हैं। भारतीय महानगरों के अंग्रेज़ी अखबार तो अब 60-70 पृष्ठ के हो चले हैं, जिनमें तीन चौथाई हिस्सा विज्ञापनों से भरा रहता है। यदि इन विज्ञापनों पर पाबंदी लग जाए तो देश का बहुत जंगल बच सकता है और बचे हुए कागज़ से देश के बच्चों को मुफ्त कॉपी-किताबें भी दी जा सकती हैं।

कुछ साल पहले मैंने एक भारतीय का लंदन यात्रा वृत्तांत पढ़ा था। वहां की लोकल ट्रेन में उसके बगल में बैठा अंग्रेज़ यात्री अपना स्टेशन आने पर अपना अखबार सीट पर छोड़कर उतरने लगा तो इस भारतीय को लगा कि वह अखबार भूल गया है। उसने आवाज़ देकर उसे याद दिलाई तो पता चला कि उसने जान-बूझकर छोड़ा है। पढ़ने के बाद अब वह उसके काम का नहीं है। अपना अखबार पढ़कर रेलगाड़ी या बस में ही फेंक दिया जाए,

तब यह रिवाज़ भारत में नहीं था। किंतु आज बन चुका है। फिर ये अखबार इतने मोटे व भारी बन गए हैं कि उन्हें बैग में रखकर ढोना भी मुश्किल हो गया है। तो अखबार की मोटाई, विज्ञापनों की भरमार और पढ़कर फेंक देने में जहां युरोप-अमरीका 20 साल पहले थे, वहां अब हम भी पहुंच गए हैं। शायद इसी को 'प्रगति' तथा 'विकास' कहते हैं।

अस्पतालों का कचरा भी एक समस्या बन गया है। इसके लिए उच्च स्तरीय बैठकें हो रही हैं तथा प्रोजेक्ट बन रहे हैं। एक-एक अस्पताल से रोज़ क्विंटलों कचरा निकलता है। रोगाणुयुक्त होने से इसके विशेष प्रबंधन की ज़रूरत होती है। जब से एचआईवी/एड्स का भूत सामने आया है, जिसका संक्रमण इंजेक्शन की सुई से भी हो सकता है, अब हर बार नई डिस्पोज़ेबल सुई व सिरिंज का इस्तेमाल ज़रूरी हो गया है। इसने कचरे की मात्रा को एकाएक कई गुना बढ़ा दिया है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान को अपनाते समय उसके इस पहलू पर पहले हमने कभी गौर करने की ज़रूरत ही नहीं समझी थी।

कंप्यूटर क्रांति, सूचना क्रांति, मोबाइल क्रांति आदि क्रांतियों का एक पहलू विशाल ई-कचरा है जो प्रदूषण फैलाता रहेगा, यह भी हमने नहीं सोचा था। बल्कि हमें तो यह बताया गया था कि कंप्यूटर के प्रसार से कागज़ का उपयोग बहुत कम हो जाएगा तथा जंगल व पर्यावरण की रक्षा होगी। कागज़ का उपयोग तो कम नहीं हुआ, उल्टे इलेक्ट्रॉनिक कचरे की नई समस्या पैदा हो गई। जिसे हमने पर्यावरण के हित में समझा था, वही बाद में पर्यावरण का दुश्मन निकला। इसका बढ़िया उदाहरण प्लास्टिक, पोलिथीन भी है। विगत अप्रैल में संसद में प्लास्टिक, पोलिथीन पर प्रतिबंध की मांग उठी, तो भारत के वन एवं पर्यावरण मंत्री ने इससे इंकार करते हुए दलील दी कि 20 वर्ष पहले इसे हमने कागज़ व पेड़ों को बचाने के लिए अपनाया था। विडंबना यह है कि आज हम वापस इसकी जगह कागज़, कपड़े के इस्तेमाल की मुहिम चला रहे हैं। विकास की गलत, नकलची व निहित स्वार्थों से संचालित समझ के कारण ऐसी विडंबना पैदा हो रही है।

इसी का एक और उदाहरण परमाणु ऊर्जा है, जिसे

बिजली संकट के समाधान और 'स्वच्छ ऊर्जा' के रूप में प्रचारित किया जा रहा है। यह बताया जा रहा है कि न तो इसमें बड़े बांधों की तरह जंगल, खेतों, गांवों को डुबाना पड़ेगा और न कोयला बिजलीघरों की तरह राख व धुएं का प्रदूषण होगा। ग्रीनहाउस गैसों का उत्सर्जन भी कम होगा। लेकिन जो नहीं बताया जा रहा है, वह यह है कि परमाणु बिजलीघरों से लगातार ज़हरीला विकिरण तथा रेडियोधर्मी प्रदूषण निकलता है और इन बिजलीघरों की हर चीज़ ज़हरीली हो जाती है। बीस-पच्चीस वर्षों के बाद इनके अंदर रेडियोधर्मिता की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि काम करना खतरनाक हो जाता है और इन्हें बंद करना पड़ता है। वे एक विशाल ज़हरीले कबाड़ में बदल जाते हैं, जिसे कहां फेंका जाए व कैसे निपटाया जाए, इसका कोई सुरक्षित तरीका वैज्ञानिक अभी तक खोज नहीं पाए हैं। इनमें कुछ ज़हरीले तत्व ऐसे होते हैं, जो हज़ारों सालों तक सक्रिय रहते हैं। यदि इस्पात के मोटे बक्सों में बंद करके इन्हें गहरे समुद्र में फेंका जाए या ज़मीन के अंदर गहराई पर गाड़ा जाए, तो भी कुछ सालों में इस्पात सड़ जाएगा और ये ज़हरीले तत्व भूजल या समुद्री जीवों के ज़रिए वापस मनुष्य व अन्य जीवों तक पहुंच जाएंगे। दिल्ली में मायापुरी के कबाड़ बाज़ार में जो दुर्घटना हुई, उसमें तो मात्र प्रयोगशाला की छोटी-सी कोबाल्ट मशीन ही थी। ऐसा लाखों टन ज़हरीला कचरा हर परमाणु बिजलीघर में तैयार हो रहा है, जो मानव जीवन और पर्यावरण के लिए टाइम बम जैसा है। इसीलिए दुनिया के कई देशों में अब नए परमाणु बिजलीघर लगाना बंद हो गया है। किंतु भारत सरकार उसी के पीछे लगी है।

औद्योगीकरण के साथ औद्योगिक कचरा बढ़ता जा रहा है। सरकारों की दुलारी कंपनियां जहां चाहे, जितना चाहे कचरा फेंकना अपना अधिकार समझती हैं जिसमें ज़हरीले रसायन, राख और अन्य अवशिष्ट पदार्थ होते हैं। एक आम तरीका इन्हें पानी के साथ बहा देना है जो नज़दीक के नालों व नदियों में मिल जाता है। नदियां भारत की सभ्यता व संस्कृति के केंद्र में हैं। लेकिन आज देश की हर नदी तेज़ी से कूड़े-कचरे, रसायनों की नालियों में तब्दील होती जा रही है। जो लोग नदियों को बचाना चाहते हैं, उन्हें पूरे औद्योगीकरण

तथा उपभोक्ता संस्कृति के खिलाफ आवाज़ उठाना होगा, मात्र श्रमदान या छोटे-मोटे सफाई कार्य से काम चलने वाला नहीं है।

कचरे और प्रदूषण की इस कहानी का एक अमीर-गरीब वाला आयाम भी है। सबसे ज़्यादा कचरा अमीर देश पैदा करते हैं किंतु इस कचरे को ठिकाने लगाने के लिए कई बार वे गरीब देशों को बेच देते हैं या उपहार में दे देते हैं। एहसान भी जताते हैं और कचरे से मुक्ति भी पाते हैं। कुछ साल पहले डेनमार्क का गोबर भारत में खाद के रूप में भेजे जाने का मामला सामने आया था जो काफी रसायनयुक्त और ज़हरीला था। इससे पहले चेर्नोबिल के परमाणु बिजलीघरों के विस्फोट से प्रदूषित हुआ युरोप का दूध पाउडर, मक्खन और दालें भारत में आए थे। जिन्हें युरोप ने अखाद्य माना था, उन्हें भारत ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। इसी तरह गेहूं आयात के पिछले दौर में सड़ा, अखाद्य, लाल गेहूं भी भारत आया और गरीबों में बांटा गया। गुजरात के समुद्र तट पर अलंग जैसे स्थानों पर पुराने जहाज़ तोड़ने और कबाड़ निकालने का उद्योग बड़ा रूप ले चुका है। ये जहाज़ काफी प्रदूषित होते हैं और अमीर देशों में इनको तोड़ने की इजाज़त नहीं होती है। अमीरों की जूठन, उतरन तथा उनका कचरा

गरीबों को देने की परंपरा पुरानी है। भारत व दूसरे गरीब देश, अमीर देशों के कूड़ाघर बन रहे हैं।

कूड़े-कचरे और प्रदूषण की यह विकराल समस्या आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता का अनिवार्य अंग बन चुकी है। कंपनियों की मुनाफाखोरी और उनके हितों की प्रधानता इसका एक कारण है। भोगवादी संस्कृति व जीवन शैली इसका दूसरा कारण है जिसमें ज़रूरतें कृत्रिम रूप से पैदा की जाती हैं और लगातार बढ़ते उपभोग को एक वांछनीय लक्ष्य तथा प्रगति का पर्याय माना जाता है। गैरबराबरी, अंतहीन उपभोग, लालच, ललक और ईर्ष्या उसके ज़रूरी तत्व हैं। आधुनिक विज्ञान और टेक्नॉलॉजी के साथ प्रकृति के प्रति एक हिकारत का भाव और उसे दासी बनाने का जो दंभ पैदा हुआ है, यह भी इसके पीछे हैं।

इस समस्या से मुक्ति पाना है तो इस पूरी सभ्यता की बुनियाद व दिशा पर पुनर्विचार करना होगा। इसका कोई आंशिक, सतही व तात्कालिक समाधान नहीं हो सकता। अमीरों के उपभोग में कटौती किए बिना, कंपनियों की मुनाफाखोरी पर लगाम लगाए बगैर तथा प्रकृति एवं आमजन के साथ बराबरी व सम्मान का रिश्ता बनाए बगैर यह समस्या खत्म होने वाली नहीं है। **(स्रोत फीचर्स)**